निश्चय - व्यवहार स्पष्टीकरण

जो जीव, राग-द्वेषरूप परिणमित होने पर भी मात्र शुद्धात्मा में (द्रव्यात्मा में = स्वभाव में) ही 'मैंपन' (एकत्व) करता है और उसी का अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन वैराग्यादि योग्यताओं के बिना प्राप्त नहीं होता।

लेखक - जयेश मोहनलाल शेठ
(बोरीवली)

-: भावार्थसहित नमस्कार मन्त्र :-

णमो अरिहंताणं	तीन काल के तीर्थंकर परमात्माओं एवं केवली परमात्माओं को बारम्बार नमस्कार हो
णमो सिद्धाणं	तीन काल के सिद्ध परमात्माओं को बारम्बार नमस्कार हो
णमो आइरियाणं	तीन काल के आचार्यों को बारम्बार नमस्कार हो
णमो उवज्झायाणं	तीन काल के उपाध्यायों को बारम्बार नमस्कार हो
णमो लोए सव्वसाहूणं	तीन लोक में तीन काल के सभी साधुओं को बारम्बार नमस्कार हो
एसो पंचणमोक्कारो	यह पंचनमस्कार
सव्वपावप्पणासणो	सभी पापों का नाशक है
मंगलाणं च सव्वेसिं	सभी मंगलों में
पढमं हवइ मंगलं	यह प्रथम मंगल है

पञ्चपरमेष्ठीवन्दन श्लोक

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धीश्वराः।
आचार्याः जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवराः रत्नत्रयाराधकाः।
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु ते मङ्गलम्।।

पुस्तक परिचय

जय जिनेन्द्र

इस पुस्तक में दिये स्पष्टीकरण के बिन्दु, वर्तमान में चल रहे वितण्डावाद और एकान्तवाद की धधकती ज्वाला से सन्तप्त सहृदय साधर्मी बन्धु-भगिनियों को बचाकर, सम्यग्दर्शन के शीतल जल से उनके उद्वेगों का शमन करने और तीर्थंकर परमात्मा द्वारा प्रणीत सत्य धर्म के मार्ग का सरल, स्पष्ट एवं सम्यक् प्रस्तुतिकरण करने की भावना से लिखे गये हैं।

इनमें मैंने यह प्रयास किया है कि निश्चय और व्यवहार - दोनों के परस्पर यथार्थ सहकारी स्वरूप की यथोचित और समीचीन समझ सभी साधर्मियों में विकसित हो।

ये तीनों स्पष्टीकरण के लेख एक साथ अथवा पृथक-पृथक भी पढ़े जा सकते हैं। आशा है कि इन्हें पढ़कर सुधि पाठक अपने अभिप्राय को अधिक सुस्पष्ट, सरल और सार्थक रूप दे सकेंगे। हमने ये महत्वपूर्ण बिन्दु आगम, युक्ति और आत्मानुभव के आधार से स्पष्ट किये हैं।

आपके जीवन में सम्यग्दर्शन का सूर्योदय हो, और उसके आलोक से आपको अव्याबाध सुखस्वरूप सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हो, यही मेरी अन्तरात्मा से उद्भूत मंगलमयी भावना है।

भवन्निष्ठ,

जयेश मोहनलाल शेठ

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ क्र.
१.	निश्चय व्यवहार की यथार्थ सन्धि	१
२.	समयसार प्रश्नोत्तरी	८
३.	समयसार के बारे में	२५

लेखक की अन्य कृतियाँ

सुखी होने की चाबी

सम्यग्दर्शन की विधि

सत्य धर्म प्रवेशिका

आत्मा की छह प्रकृतियाँ

समयसार की समीचीन समझ

www.jayeshsheth.com वेबसाइट पर उपलब्ध हैं।

अपनी प्रति के लिये इस नम्बर पर वॉट्स अॅप करें - 98924 36799

१. निश्चय-व्यवहार की यथार्थ सन्धि

१. हम लोग निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि न समझने के कारण से ही अनादि से संसार में रुल रहे हैं। वर्तमान में भी समाज की प्राय: यही स्थिति दिख रही है।

२. निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि का मतलब यह है कि हमें कहीं प्रवास में जाना होता है तब हम सिर्फ़ नक़्शा नहीं देखते। एक बार नक़्शे को समझ लेने के बाद हम प्रवास शुरु कर देते हैं। अगर प्रवास शुरु नहीं किया तो नक़्शा देखने का मक़्सद पूरा नहीं होगा। नक़्शा निश्चय है और प्रवास व्यवहार।

३. निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि का मतलब यह है कि दोनों का यथायोग्य प्रमाण में सेवन करना। किसी एक का भी अधिक मात्रा में सेवन करने से या किसी एक का भी पक्ष रखने से वह निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि नहीं बन पायेगी।

४. निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि का मतलब यह है कि हम जब सब्ज़ी बनाते हैं तब उसमें नमक उचित मात्रा में ही डालना होता है। अगर सब्ज़ी में नमक कम होगा तो वह फीकी लगेगी और ज़्यादा होगा तो वह खाने लायक ही नहीं रहेगी। नमक निश्चय है और सब्ज़ी व्यवहार। इसलिये समझना यह है कि अपनी साधना में निश्चय और व्यवहार का योग्य संयोजन आवश्यक है।

५. निश्चय और व्यवहार के योग्य संयोजन में निश्चय सब्ज़ी में नमक की भाँति योग्य मात्रा में ही होना आवश्यक है। कई लोग सिर्फ़ निश्चय को ही सच्चा

मानकर और व्यवहार को झूठा (उपचरित) मानकर अकेले निश्चय का ही सेवन करते रहते हैं। यह इस हुण्डा अवसर्पिणी कलिकाल का ही प्रभाव है कि वे सब्ज़ी को छोड़कर अकेले नमक खाने की ही प्ररूपणा करते हैं। हम सोच भी नहीं सकते हैं कि उनकी क्या दशा होगी। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

६. वर्तमान में कई लोग अध्यात्म के नाम पर अकेले निश्चय का ही प्रतिपादन करते हैं और उसी से अनेकों की ज़िन्दगियों को बर्बाद करके उन्हें अनन्तकाल तक संसार में रुलाने के लिये ज़िम्मेदार हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

७. प्रश्न: साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु निश्चय और व्यवहार के योग्य संयोजन में कितना निश्चय आवश्यक है?

उत्तर: साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या समझना अति आवश्यक है। शुद्धात्मा की अनुभूति से ही निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। यही सम्यग्दर्शन का सही और अनुभवसिद्ध मानक है। इसे समझना और ऐसा लक्ष्य तय करना अत्यन्त आवश्यक है।

८. यह वर्तमान हुण्डा अवसर्पिणी कलिकाल का ही प्रभाव है कि कई लोग निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या का ही विरोध करते हैं और अपने ही मोक्षमार्ग-प्रवेश में बाधा बनते हैं। वे जीवनभर चारित्र की आराधना करके भी मोक्षमार्ग से वंचित रह जाते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

९. प्रश्न: साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु आत्मस्वरूप की जानकारी कितनी आवश्यक है?

उत्तर: साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या समझ में आ जाये उतनी आत्मस्वरूप की जानकारी होनी आवश्यक है। दरअसल अगर आत्मा में सम्यग्दर्शन के लिये आवश्यक योग्यता होती है तभी अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति होकर निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। तब उसे स्वभाव का आंशिक अनुभव भी होता है, यह समझना अति आवश्यक है।

१०. प्रश्न: आप यह क्यों कह रहे हैं कि साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या समझ में आ जाये उतनी ही आत्मस्वरूप की जानकारी आवश्यक है?

उत्तर: क्योंकि "मैं शुद्धात्मा हूँ", "मैं परम अकर्ता हूँ" इस प्रकार की स्वरूप की जानकारी के बिना तो साधक को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है परन्तु बिना आवश्यक योग्यता के कभी भी नहीं होता। यह बात एकदम पक्की है कि अधिकारीपन (पात्रता) पाये बिना कभी भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता क्योंकि सम्यग्दर्शन बहिरात्मभाव में कभी नहीं होता, उसके लिये आत्मसन्मुखता (पर-विमुखता) प्राप्त करना परम आवश्यक है।

११. प्रश्न: आत्मसन्मुखताप्राप्ति हेतु "मैं शुद्धात्मा हूँ", "मैं परम अकर्ता हूँ" इस प्रकार की आत्मस्वरूप की जानकारी की आवश्यकता क्यों नहीं है?

उत्तर: क्योंकि आत्मसन्मुखता परविमुखता से आती है और परविमुखता तो आत्महित सर्वोपरि के सिद्धान्त को आत्मसात करने पर ही आती है! आत्महित सर्वोपरि का सिद्धान्त बिना अपने बाँट और तराज़ू (सफलता के पैमाने/मूल्याङ्कन के मानक) बदले समझ में नहीं आता। उसे समझने के लिये बारह भावनाओं का प्रयोगात्मक चिन्तन आवश्यक है न कि आत्मस्वरूप की जानकारी क्योंकि हमने अनेकों बार नौ पूर्वों तक का अध्ययन किया है जिनमें आत्मस्वरूप की

जानकारी का भण्डार भरा हुआ है मगर उससे भी हमारा कल्याण नहीं हुआ। बल्कि उससे तो स्वयं शुद्धात्मा होने का भ्रम (निश्चयाभास) भी हो सकता है। इसलिये हम अभी तक संसार में भटक रहे हैं।

१२. प्रश्नः हमने तो सुना है कि सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु कल्पनाजनित आत्मस्वरूप में रमने की आवश्यकता है। आप मना क्यों कर रहे हैं?
उत्तरः मना इसलिये कर रहे हैं क्योंकि अज्ञानी नियम से पर्याय का ही वेदन करता है। इसलिये वह जब भी शुद्ध आत्मस्वरूप में रमने का प्रयास करता है तब उसकी कल्पना अपनी पर्याय में ही करेगा। वह अपनी पर्याय को ही अपना त्रिकाली स्वरूप मानकर भ्रमवश उसी का वेदन करने का प्रयास करेगा। जबकि अभी पर्याय तो त्रिकाली स्वरूप जैसी है ही नहीं। इसलिये वह भ्रमवश जो शुद्ध आत्मस्वरूप नहीं है उस कल्पनाजनित भ्रम में रमने का ही प्रयास करेगा जो कि आत्मप्राप्ति में ज़रा भी कार्यकारी नहीं है। इसे निश्चयाभास कहा जाता है। निश्चयाभास तो उसे भ्रम में ही रखने का काम करेगा जो कि सम्यग्दर्शनप्राप्ति में बहुत बड़ी बाधा है। निश्चयाभास उसके सम्यक् पुरुषार्थ का छेदन कर देगा। निश्चयाभास के रहते परसन्मुखता कभी छूट ही नहीं सकती इसलिये हम अज्ञानी को स्वरूप के कल्पनाजनित भ्रम में रमने को मना कर रहे हैं।

१३. कई लोग यह सोचकर कि हमारा व्यवहार तो ठीक है अब हमें सिर्फ़ निश्चय को ही ग्रहण करना शेष है, अकेले निश्चय का ही भरपूर सेवन करने लगते हैं। उन्हें पता ही नहीं है कि यदि आत्मानुभूति का लक्ष्य न हो तो व्यवहार भी व्यवहाराभास कहा जाता है। जिसे एकमात्र आत्मप्राप्ति का ही लक्ष्य हो उसके बाँट और तराज़ू (सफलता के पैमाने/मूल्याङ्कन के मानक) अपने आप

बदल जाते हैं। मूल्याङ्कन के बाँट और तराज़ू बदलने से साधक को बाहरी जगत का सब कुछ असार और निरर्थक लगने लगता है और वह स्वयमेव अपनी अत्यन्त मूल्यवान आत्मा के सन्मुख होने लगता है। आत्मप्राप्ति की यही रीति है। उसके लिये निश्चय के अतिरेक की कोई आवश्यकता नहीं। हाँ, जिसने निश्चय नय को विपरीत रूप से ग्रहण किया हो उसे सम्यक् निश्चय समझना आवश्यक है।

१४. सम्यक् निश्चय यानी आत्मस्वरूप का जो वर्णन है वह मैं अभी भी प्रकट (अनुभव) कर सकता हूँ, मगर अभी पर्याय में ही वैसा हूँ - ऐसा नहीं। अगर पहली कक्षा में पढ़नेवाला विद्यार्थी स्वयं को डॉक्टर मानने लगे तो फिर वह आगे पढ़ेगा ही क्यों? वह या तो पढ़ना ही छोड़ देगा या फिर पढ़ाई के प्रति निरुत्साहित हो जायेगा। यही हाल निश्चय को ग़लत ढंग से समझनेवालों का है। वे अपने को शुद्ध, अकर्ता, अभोक्ता, ध्रुव, ज्ञाता-दृष्टा, साक्षी, परमपुरुष, सिद्धसम, मुक्त मानने की बातें करते हैं। ऐसा करके वे लोग निश्चयाभासी बनकर अपनी इस ज़िन्दगी को बर्बाद करके अनन्तकाल तक अपने को संसार में रुलाने (भटकाने) के लिये स्वयं ज़िम्मेदार होते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

१५. असल में अनेक शास्त्रों में जो भी निश्चयनय का विस्तार है, वह ज्ञानी के कल्लोल (आनन्द) के लिये है। वह विस्तार ज्ञानी को अपनी अनुभूति जाँचने के लिये और सिद्धसम आत्मा में ठहर जाने की प्रेरणा देने के लिये है। अज्ञानी भी उसे पढ़कर ज्ञानी की दशा समझ सकते हैं मगर कई अज्ञानी स्वयं को वैसा मानने की भूल कर बैठते हैं। वे ऐसा ही प्रचार करके बहुतों की ज़िन्दगियाँ बर्बाद कर उन्हें अनन्तकाल तक संसार में रुलाने (भटकाने) के लिये ज़िम्मेदार होते

हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

१६. कई लोग निश्चयनय का ही प्रचार-प्रसार करते देखे जाते हैं क्योंकि उन्हें उसके नुक़सान नहीं मालूम। वे स्वयं भी अज्ञानवश इस बात से अनभिज्ञ रहते हैं इसलिये जाने-अनजाने में वे अपने और दूसरों के अनन्तकाल तक पतन के लिये ज़िम्मेदार बनते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

१७. कई लोग निश्चयनय से स्वयं को शुद्ध मानते हुए अपने राग-द्वेष के लिये स्वयं को ज़िम्मेदार न मानते हुए कर्मों को ही ज़िम्मेदार मानते हैं और स्वछन्दता से जीते हैं। ऐसी ग़लत प्ररूपणा से वे अपने और दूसरों के अनन्तकाल तक पतन के लिये ज़िम्मेदार बनते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

१८. शुद्ध निश्चयनय से जीव भगवान जैसा है। अगर हम अभी वर्तमान दशा (पर्याय) में ही भ्रमवश स्वयं को भगवान मानने लग जायें तो वह पहली कक्षा के छात्र द्वारा अपने को डॉक्टर मानने जैसा ही होगा। यह बात नहीं समझने से ही यह ग़लतफ़हमी फैल रही है। ऐसी ग़लत प्ररूपणा की वजह से लोग अपने और दूसरों के अनन्तकाल तक पतन के लिये ज़िम्मेदार बनते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

१९. शुद्ध निश्चयनय भगवान का स्वरूप बताने और हम भी वैसे बन सकते हैं यह बताने के लिये है। हम स्वरूप से अभी वैसे ही हैं कहने का अर्थ है कि हम भी वैसे बन सकते हैं, हममें वह सम्भावना विद्यमान है। शुद्ध निश्चयनय का

मक़्सद अज्ञानी को प्रोत्साहित करना, उसका लक्ष्य तय कराना तथा ज्ञानी को उसका बार-बार अनुभव कराना है।

२०. कई लोग कहते हैं कि “मैं शुद्धात्मा हूँ”, “मैं परम अकर्ता हूँ” इत्यादि स्वरूप की जानकारी को घोंटने (बार-बार पक्का करने) से यानी उसका बार-बार मनन-चिन्तन करने से हमें उसकी प्राप्ति हो सकती है या तो उसकी प्राप्ति आसान बन जाती है। हम कहते हैं कि स्वरूप का मनन-चिन्तन करें या न करें लेकिन आप अगर सम्यग्दर्शन के लिये आवश्यक योग्यता प्राप्त कर लेंगे तो आपके लिये स्वरूप की अनुभूति सरल हो जाती है। स्वरूप के अधिक मनन-चिन्तन से तो कभी-कभी भ्रम यानी निश्चयाभास होने का ख़तरा भी बना रहता है।

२१. कई लोग हमें पूछते हैं कि मैं वर्तमान में भी स्वरूप से तो में शुद्ध ही हूँ न? तब हम उन्हें बताते हैं कि स्वरूप से तो आप त्रिकाल शुद्ध ही हैं। उनको लगता है कि हम उनकी मान्यता का ही समर्थन कर रहे है क्योंकि उन्हें हमारे कथन का गूढ़ार्थ समझ में नहीं आता। जब हम कहते हैं कि स्वरूप से तो सभी जीव त्रिकाल शुद्ध ही हैं तब हम त्रिकाली ध्रुव (शुद्ध निश्चयनय) की बात कर रहे हैं यानी शुद्ध द्रव्य की बात कर रहे हैं। जिसे वे भ्रम (कल्पना) से वर्तमान में अपनी स्थिति मान लेते हैं, उसे पर्याय में घटाते हैं। उन्हें त्रिकाली ध्रुव का अनुभव तो है नहीं इसलिये वे इस बात को वर्तमान में घटाकर वैसा, अपनी पर्याय में ही भ्रम (कल्पना) से मानने लग जाते हैं। अपने आप को वर्तमान में ही शुद्ध मानने लगते हैं, जो बहुत ही बड़ी भूल है। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

२. समयसार प्रश्नोत्तरी

१. **प्रश्न** — जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता, तब द्रव्यकर्म को जीव के भावकर्म का निमित्त क्यों कहा जाता है?

उत्तर — जो भी द्रव्यकर्म हैं वे जीव के भूतकाल के भावों के निमित्त से ही बन्धे हैं। अर्थात् वे जीव के भूतकाल के भावों के ही प्रतिनिधि हैं, प्रतिबिम्ब हैं। इसलिये निश्चय से तो जीव के भूतकाल के भाव ही जीव के वर्तमान भावों के निमित्त हैं मगर व्यवहार से जीव के भूतकाल के भावों के ही प्रतिबिम्बस्वरूप द्रव्यकर्मों को भी निमित्त कहा जाता है अथवा कहा जा सकता है। यहाँ व्यवहार का अर्थ असत्य (उपचार) नहीं समझना, यहाँ दो द्रव्य भिन्न होने से उनके भिन्नत्व को दर्शाने के लिये ही उसे व्यवहार कहा है। ज्ञातव्य है कि जीव के भाव, कर्मों के निमित्त से ही उत्पन्न होते हैं इसी लिये उन्हें भावकर्म कहते हैं। वही भावकर्म नये कर्मों के बन्ध के निमित्त भी बनते हैं इस कारण से भी उन्हें भावकर्म कहते हैं। इसलिये जो लोग निश्चय-व्यवहार की योग्य सन्धि को नहीं समझते वे इसे दोनो में से किसी एकान्त से ही प्ररूपित करते हैं।

२. **प्रश्न** — जब हम एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मानते हैं तब उन दोनों द्रव्यों में नित्य कर्तृत्व का प्रसंग नहीं बनेगा?

उत्तर — दो द्रव्यों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तभी तक ही रहता है जब तक उस नैमित्तिक द्रव्य का उपादान निमित्त के अनुकूल होता है। जब उस नैमित्तिक द्रव्य का उपादान निमित्त के अनुकूल नहीं रहता तब फिर उनके बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं रहता। इसलिये उन दो द्रव्यों में नित्य कर्तृत्व का प्रसंग कभी नहीं बनेगा। जैसे जीव राग के निमित्त से रागी बनता है यानी

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है मगर जब कोई जीव साधनामग्न होकर गुणस्थानक आरोहण करते हुए दसवें गुणस्थानक से ऊपर चढ़ जाता है तब उन राग के निमित्तों के साथ उसका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहेगा ही नहीं। इसलिये हमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से न डरते हुए तथा ग़लत निमित्तों से बचते हुए अपनी सम्यक् साधना पर ध्यान देना चाहिये।

३. **प्रश्न** — ज्ञेय में छिपी ज्ञानज्योति से भेदज्ञान कर उसका अनुभव कैसे किया जा सकता है?

उत्तर — यह सर्वविदित है कि जो परज्ञेय है वह जीव से भिन्न द्रव्य है मगर जो परज्ञेय जीव के लक्षणरूप ज्ञान का ज्ञेय बनता है, ज्ञान में प्रतिबिम्बित होता है, या फिर दूसरे शब्दों में कहें, जब जीव पर को जानता है तब वह परज्ञेय जीव के ज्ञान में प्रतिबिंबित होता है तब वह ज्ञान के आकाररूप होता है। जीव उसी स्वज्ञान के आकार को जानता है। जीव जैसे ही उस ज्ञान के आकार को गौण करता है यानी उससे अपना लक्ष्य हटाकर स्वज्ञान से अहं भाव-एकत्व स्थापित करता है तब उसे ज्ञानज्योति का यानी ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है। यही आत्मज्ञान है, यही सम्यग्दर्शन है, यही समकित है, यही आत्मसाक्षात्कार है।

४. **प्रश्न** — नौ तत्त्वों में छिपी ज्ञानज्योति से भेदज्ञान कर उसका अनुभव कैसे किया जा सकता है?

उत्तर — जीव, अजीव (कर्म-नोकर्मादि), आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन नौ तत्त्वों को गौण करते ही यानी उनसे अपना लक्ष्य हटाकर ज्ञान में अहं भाव-एकत्व स्थापित करते ही जानने-देखनेवाली आत्मा यानी ज्ञान की ज्योति यानी ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है। यही आत्मज्ञान है, यही सम्यग्दर्शन है, यही समकित है, यही आत्मसाक्षात्कार है।

५. **प्रश्न** — नौ तत्त्वों में आत्मा को आस्रव-बन्ध बताया है मगर कई लोग ऐसा भी कहते हैं कि आत्मा में आस्रव-बन्ध हैं ही नहीं। तब सत्य क्या है?

उत्तर — अपेक्षा से दोनों ही बातें सत्य हैं मगर योग्य अपेक्षा को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लतफ़हमी यथायोग्य नयों का ज्ञान न होने से पनपी है। अनेकान्त से हमें यह समझना है कि यदि संसारी आत्मा में आस्रव-बन्ध न होते तो वह आत्मा संसार में क्यों भटकती? इसलिये उस आत्मा को खान से निकला हुआ स्वर्ण समझना है न कि चौबीस कॅरट वाला शुद्ध स्वर्ण। लेकिन हाँ, शुद्ध निश्चयनय से उस आत्मा को शुद्ध स्वर्ण जैसी आस्रव-बन्धरहित आत्मा भी कहा जा सकता है। परन्तु एकान्त से आत्मा के बारे में ऐसा न तो कहा जा सकता है और न ही माना जा सकता है क्योंकि संसारी आत्मा में आस्रव-बन्ध विद्यमान हैं। तभी तो वह संसारचक्र से मुक्त नहीं हुई है। अन्यथा वह मुक्तात्मा होती। इसलिये हमें उसे यथायोग्य नय से आस्रव-बन्धरहित होना या न होना समझना चाहिये। और हमें अपना सारा पुरुषार्थ मुक्ति हेतु लगाना चाहिये न कि एकान्त से अपने आप को मुक्त समझकर भ्रम में जीकर संसार में भटकते रहना चाहिये।

६. **प्रश्न** — आचार्य हरिभद्र सूरि रचित छह पदों में आत्मा को कर्मों का कर्ता भी कहा है और भोक्ता भी। मगर कई लोग ऐसा भी कहते हैं कि आत्मा कर्ता-भोक्ता है ही नहीं, वह तो परम अकर्ता-अभोक्ता है। तब सत्य क्या है?

उत्तर — अपेक्षा से दोनों ही बातें सच हैं मगर उन अपेक्षाओं को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लतफ़हमी यथायोग्य नयों का ज्ञान न होने से पनपी है। अपने विवेक (अनेकान्त) से हमें यह समझना है कि संसारी आत्मा में अगर

कर्तृत्व-भोक्तृत्व न होते तो वह आत्मा संसार में क्यों भटकती? इसलिये उस आत्मा को खान से उत्खनित स्वर्ण अयस्क समझना है न कि चौबीस कॅरटवाला शुद्ध स्वर्ण। हाँ, शुद्ध निश्चयनय से उस आत्मा को शुद्ध स्वर्ण के समान कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित आत्मा भी कहा जा सकता है। परन्तु एकान्त से आत्मा के बारे में ऐसा न तो कहा जा सकता है और न ही माना जा सकता है क्योंकि संसारी आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व विद्यमान हैं। तभी तो वह संसारचक्र से मुक्त नहीं हुई है। अन्यथा वह मुक्तात्मा होती। इसलिये हमें यथायोग्य नय से उसका कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित होना या न होना समझना चाहिये और हमें अपना सारा पुरुषार्थ मुक्ति हेतु लगाना चाहिये न कि एकान्त से स्वयं को मुक्त और अकर्ता समझकर भ्रम में जीकर संसार में भटकते रहना चाहिये।

७. **प्रश्न** — कई लोग पुण्य-पाप को समानरूप से हेय मानते हैं। फिर नौ तत्त्वों में कई लोग पुण्य को उपादेय और पाप को हेय क्यों बताते हैं?

उत्तर — अपेक्षा से दोनों ही बातें सच हैं मगर योग्य अपेक्षा समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लतफ़हमी विवेकहीन ज्ञान की वजह से पनपी है। विवेक से हमें यह समझना है कि पुण्य और पाप दोनों ही आस्रव होने से और आस्रव हेय होने से उस अपेक्षा से पुण्य और पाप दोनों को समानरूप से हेय कहा जा सकता है। मगर शास्त्रों में लिखा है कि पुण्य का फल शुभ होता है तथा पाप का फल अशुभ होता है। उस अपेक्षा से हम पुण्य को उपादेय और पाप को हेय कह सकते हैं। इसलिये हमें यथायोग्य विवेकानुसार यह समझना है कि साधनाक्रम में पहले क्रमशः पाप छूटता है और फिर जब आत्मा अयोगी हो जाती है तब पुण्य भी छूट जाता है। न कि एकान्त से पुण्य-पाप को समानरूप से हेय मानकर संसार में भटकते रहना चाहिये।

८. **प्रश्न** — कई लोग शुभभाव और अशुभभाव को समानरूप से हेय बताते हैं। कई लोग शुभभाव को उपादेय और अशुभभाव को हेय बताते हैं क्योंकि शुभभाव से पुण्य और अशुभभाव से पाप बन्धते हैं। तब सत्य क्या है?

उत्तर — अपेक्षा से दोनों ही बातें सच हैं मगर उस अपेक्षा को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लत समझ विवेकहीन ज्ञान की वजह से पनपी है। विवेक से हमें यह समझना है कि शुभभाव तथा अशुभभाव दोनों ही जीव के लिये आस्रव के कारण हैं और आस्रव हेय होने से दोनों को उस अपेक्षा से समानरूप से हेय बताया जा सकता है। मगर शास्त्र कहते हैं कि शुभभाव (पुण्य) का फल शुभ होता है और अशुभभाव (पाप) का फल अशुभ होता है। इस अपेक्षा से हम शुभभाव को उपादेय और अशुभभाव को हेय कह सकते हैं। इसलिये हमें यथायोग्य विवेकानुसार यह समझना है कि साधनाक्रम में पहले क्रमशः अशुभभाव छूटता है और फिर जब आत्मा केवलज्ञानी हो जाती है तब शुभभाव भी छूट जाता है। अपेक्षा से शुद्धभाव में जाने के लिये ही शुभभाव को हेय बताया जाता है, न कि अशुभभाव में रहने के लिये। इस प्रकार एकान्त से शुभभाव और अशुभभाव को समानरूप से हेय मानकर संसार में नहीं भटकना चाहिये।

९. **प्रश्न** — कई लोग आत्मा में राग-द्वेष के अस्तित्व को ही नहीं मानते। वे कहते हैं कि आत्मा कभी रागी-द्वेषी नहीं होती, कभी राग-द्वेष नहीं करती। और कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा राग-द्वेष करती है और उससे वह कर्मबन्ध भी करती है। तब सत्य क्या है?

उत्तर — अपेक्षा से दोनों ही बातें सच हैं मगर उस अपेक्षा को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी

बात को सच मानते हैं। यह ग़लत समझ यथायोग्य नयों का ज्ञान न होने से पनपी है। अनेकान्त से हमें यह समझना है कि संसारी आत्मा में अगर राग-द्वेष नहीं होते तो वह आत्मा संसार में क्यों भटकती? इसलिये उस आत्मा को खान से निकला हुआ स्वर्ण अयस्क समझना है न कि चौबीस कॅरट शुद्ध स्वर्ण। शुद्ध निश्चयनय से उस आत्मा को भी शुद्ध स्वर्ण समान राग-द्वेष रहित आत्मा कहा जा सकता है। परन्तु उसे एकान्त से ऐसा न तो कहा जा सकता है न ही माना जा सकता है। संसारी आत्मा में राग-द्वेष विद्यमान हैं इसलिये वह संसार चक्र से मुक्त नहीं हुई है। अन्यथा वह मुक्तात्मा होती। इसलिये हमें उसे यथायोग्य नय से राग-द्वेष होना या न होना समझना चाहिये। और अपना सारा पुरुषार्थ राग-द्वेष को कम करते हुए मुक्ति पाने के लिये लगाना चाहिये। एकान्त से स्वयं को राग-द्वेष से मुक्त मानकर भ्रम में जीकर संसार में नहीं भटकना चाहिये।

१०. **प्रश्न** — कई लोग आत्मा में विकारी पर्याय के अस्तित्व को ही नहीं मानते। वे कहते हैं कि आत्मा उन विकारी पर्यायों से परे है। कुछ लोग कहते हैं कि विकारी पर्याय आत्मा में ही होते हैं और उनके निमित्त से ही कर्मबन्ध होता है। तब सत्य क्या है?

उत्तर — अपेक्षा से दोनों ही बातें सच हैं मगर उस अपेक्षा को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लत समझ यथायोग्य वस्तुव्यवस्था (वस्तुस्वरूप) का ज्ञान न होने से पनपी है। अनेकान्त से हमें यह समझना है कि संसारी आत्मा में अगर विकारी पर्याय न होते तो वह आत्मा संसार में क्यों भटकती? इसलिये उस आत्मा को खान से निकला हुआ स्वर्ण अयस्क समझना है न कि चौबीस कॅरट शुद्ध स्वर्ण। शुद्ध निश्चयनय से उस आत्मा को भी शुद्ध स्वर्ण समान विकारी पर्यायरहित आत्मा भी कहा जा सकता है। परन्तु उसे एकान्त से ऐसा न

तो कहा जा सकता है और न ही माना जा सकता है। संसारी आत्मा में विकारी पर्याय विद्यमान हैं इसलिये वह संसारचक्र से मुक्त नहीं हुई है। अन्यथा वह मुक्तात्मा होती। इसलिये हमें यथायोग्य नय से आत्मा में विकारी पर्याय होना या न होना समझना चाहिये और अपना पुरुषार्थ आत्मप्राप्ति में लगाना चाहिये। आत्मा की अन्य योग्यताएँ प्राप्त करके उन विकारी पर्यायों को गौण करते ही यानी उनसे अपना लक्ष्य हटाकर ज्ञान में अहं-एकत्व स्थापित करते ही जानने-देखनेवाली आत्मा यानी ज्ञान की ज्योति यानी ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है। यही आत्मज्ञान है, यही सम्यग्दर्शन है, यही समकित है, यही आत्मसाक्षात्कार है। एकान्त से स्वयं को विकारी पर्यायों से रहित मानकर भ्रम में जीकर संसार में नहीं भटकते रहना चाहिये।

११. **प्रश्न** — कई लोग पर्याय को द्रव्य से भिन्न मानते हैं, उसमें प्रदेश भेद भी मानते हैं। अन्य कई लोग अनुस्युति (continuity) से रचित पर्यायों के समूह को ही द्रव्य मानते हैं। तब सत्य क्या है?

उत्तर — वस्तुव्यवस्था बतानेवाले शास्त्रों में अच्छी तरह बताया गया है कि द्रव्य से पर्याय अभिन्न है। यह बात हमने अपनी पुस्तक **'सम्यग्दर्शन की विधि'** में विस्तार से बतायी है। लोग उसका अध्ययन कर सकते हैं। जो और जितना क्षेत्र द्रव्य का है, वह और उतना ही क्षेत्र पर्याय का भी है। इसलिये हम उसे क्षेत्र अपेक्षा से प्रदेशभेद नहीं कह सकते। कई लोग उसे समुद्र और लहरों का उदाहरण देकर भिन्न बताने का प्रयास करते हैं मगर उनको यह पता होना चाहिये कि लहरों में समुद्र ही व्यक्त होता है, वही पानी है अर्थात् समुद्र स्वयं ही लहरों के रूप में व्यक्त हो रहा है। जैसे कि सोना स्वयं ही मुकुट के रूप में, कड़े के रूप में या अन्य किसी भी गहने के रूप में व्यक्त हो रहा है। वहाँ सोना और गहना भिन्न नहीं है, उसमें कोई भी प्रदेशभेद भी नहीं है। क्योंकि जितना

क्षेत्र सोने (द्रव्य) का है, वह और उतना ही क्षेत्र उससे बने गहने (पर्याय) का भी है। इसलिये अनुस्युति से रचित पर्यायों के समूह को ही द्रव्य मानना उचित है। यानी एक ही वस्तु को देखने के तरीक़े से वही वस्तु द्रव्य या पर्याय जानने में आती है। जैसे गहना पर्याय है और यदि गहने को स्वर्णत्व की दृष्टि से देखें तो वही गहना सोना (द्रव्य) है। उसमें क्षेत्र अपेक्षा से प्रदेशभेद मानना बहुत ही ज़्यादा ग़लत समझ है, जिससे हमें बचना चाहिये।

१२. **प्रश्न** — कई लोग द्रव्य-गुण-पर्याय को तीन भिन्न सत् मानते हैं। वे मानते हैं कि द्रव्य का जो प्रतिबिम्ब पर्याय में प्रतिबिम्बित होता है उसे पर्याय जानती है, उसे आत्मानुभूति कहते हैं। क्या यह सत्य है?

उत्तर — वस्तुव्यवस्था बतानेवाले शास्त्रों में अच्छी तरह बताया गया है कि द्रव्य से पर्याय अभिन्न है। यह बात हमने अपनी पुस्तक **'सम्यग्दर्शन की विधि'** में विस्तार से बतायी है। आप उसका अध्ययन कर सकते हैं। जो और जितना क्षेत्र द्रव्य का है, वह और उतना ही क्षेत्र गुणों का भी है, वह और उतना ही क्षेत्र पर्याय का भी है। इसलिये हम उन्हें तीन भिन्न सत् नहीं कह सकते हैं। अपेक्षा से उन्हें भिन्न सत् अवश्य बता सकते हैं परन्तु वस्तुतः वे एक हैं, अभिन्न हैं। द्रव्य के वर्तमान रूप को पर्याय कहते हैं और द्रव्य के अभिन्न लक्षणों को गुण कहते हैं। अनुस्युति से रचित पर्यायों के समूह को ही द्रव्य मानना उचित है और उस द्रव्य के हर एक प्रदेश में सभी गुण मौजूद हैं। एक ही वस्तु को समझने के लिये उसके द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे भेद किये गये हैं। वे भेद वास्तविक नहीं हैं। ऐसी अभेद आत्मा की अनुभूति भी तो अभेद ही होगी। इसलिये यह मानना कि द्रव्य का जो प्रतिबिम्ब पर्याय में प्रतिबिम्बित होता है उसे पर्याय जानती है और उसे आत्मानुभूति कहते हैं, बहुत ही बड़ी भूल है। हमें इससे बचना चाहिये।

१३. **प्रश्न** — कई लोग आत्मा को विकारी पर्याय का कर्ता नहीं मानते। वे कहते हैं कि पर्याय का अपने स्वतन्त्र षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमन होता रहता है। और कुछ लोग आत्मा को विकारी पर्याय का कर्ता मानते हैं और कर्मबन्ध भी उसी के निमित्त से होता है ऐसा मानते हैं। तब सत्य क्या है?

उत्तर — यह ग़लत समझ यथायोग्य वस्तुव्यवस्था (वस्तुस्वरूप) का ज्ञान न होने से पनपी है। वस्तुव्यवस्था बतानेवाले शास्त्रों ने अच्छी तरह बताया है कि द्रव्य से पर्याय अभिन्न है। यह बात हमने अपनी पुस्तक **'सम्यग्दर्शन की विधि'** में विस्तार से बतायी है। आप उसका अध्ययन कर सकते हैं। जो और जितना क्षेत्र द्रव्य का है, वह और उतना ही क्षेत्र पर्याय का भी है। इसलिये हम उसमें क्षेत्र की अपेक्षा से प्रदेशभेद नहीं बता सकते। जब द्रव्य और पर्याय अभिन्न हैं तो उनके षट्कारक भी तो अभिन्न ही होंगे। जब तक हम आत्मा की अभेदता को नहीं समझेंगे तब तक आत्मानुभूति अशक्य ही है। क्योंकि अभेद आत्मा की ही अनुभूति होती है न कि भेदरूप (द्रव्य-पर्याय) या आधी (पर्याय से भिन्न द्रव्य की) आत्मा की। अनुभूति के समय पर्यायें गौण होकर द्रव्य में ही अन्तर्गर्भित हो जाती हैं। इसी तरह द्रव्य-पर्यायमय आत्मा अभेद हो जाती है न कि पर्यायरहित द्रव्य की अनुभूति से, जो कि आकाशकुसुम की भाँति असम्भव है। वास्तव में आत्मा ही कर्मों के निमित्त से उस विकारी पर्यायरूप में परिणमती है और उस आत्मा के परिणमन को निमित्त बनाकर ही कर्म बन्धते हैं। इस तरह संसारी आत्मा ही उस विकारी पर्यायरूप में परिणमती है इसलिये वह संसारचक्र से मुक्त नहीं हुई है। अन्यथा वह मुक्तात्मा होती। इसलिये हमें उसे यथायोग्य वस्तुव्यवस्था से अभेद आत्मा के अभेद षट्कारक को समझना चाहिये, न कि द्रव्य-पर्याय में प्रदेशभेद मानकर दोनों के षट्कारक भिन्न समझना चाहिये।

१४. **प्रश्न** — क्या निश्चयनय से भी आत्मा अपनी विकारी पर्याय की कर्ता भोक्ता है?

उत्तर — जी हाँ, निश्चयनय से भी आत्मा अपनी विकारी पर्याय की कर्ता भोक्ता है। निश्चय अर्थात अभेद और व्यवहार अर्थात भेद। निश्चयनय से आत्मा अपने भावों की कर्ता-भोक्ता है, परभाव की नहीं। इसलिये उसे अपनी विकारी पर्याय की भी कर्ता-भोक्ता मानना आवश्यक है। अन्यथा उस विकारी पर्याय का कर्ता-भोक्ता किसी अन्य द्रव्य को मानने का प्रसंग आ जायेगा जबकि अन्य द्रव्य को विकारी पर्याय का उपादान रूप से कर्ता-भोक्ता नहीं माना जा सकता। हाँ, उसे निमित्त रूप से कर्ता अवश्य मान सकते हैं। निश्चयनय से उपादान स्वयं ही परिणमता है, स्वयं ही अपने परिणामो का कर्ता है। इससे समझ में आता है कि निश्चयनय से आत्मा ही अपनी विकारी पर्याय की कर्ता-भोक्ता है।

१५. **प्रश्न** — जब हमारा परमपारिणामिकभाव से एकत्व होता है तब पर्याय का क्या होता है? यानी पर्याय उसमें शामिल है या नहीं?

उत्तर — जब हमें शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से प्राप्त परमपारिणामिकभाव से एकत्व होता है यानी कि शुद्धात्मा की अनुभूति होती है तब पर्याय स्वयमेव ही गौण हो जाती है अर्थात् उस परमपारिणामिकभाव में अन्तर्गर्भित हो जाती है। इस तरह से अनुभूति सदैव अभेदद्रव्य की ही होती है न कि पर्याय रहित भेद की यानी खण्डित द्रव्य की। खण्डित द्रव्य की अनुभूति कभी नहीं हो सकती क्योंकि खण्डित द्रव्य होता ही नहीं है। हाँ, उसका भ्रम अवश्य होता है।

१६. **प्रश्न** — कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि आत्मा पर को नहीं जानती। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि आत्मा स्व-पर को जानती है और वह उसका स्वभाव है। और कुछ लोग यह कहते हैं कि आत्मा निश्चय से स्व को ही जानती है, पर को तो व्यवहार (उपचार) से ही जानती है। तब सत्य क्या है?

उत्तर — अपेक्षा से प्रथम दोनों ही बातें सच हैं और तीसरी बात में व्यवहार को उपचार न समझकर उसे भेदरूपी व्यवहार समझना चाहिये। अपेक्षा को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से किसी एक बात को सच और दूसरी को झूठ मान लेते हैं। यह ग़लत समझ यथायोग्य वस्तुव्यवस्था (वस्तुस्वरूप) का ज्ञान न होने से पनपी है। आत्मा की जानन-क्रिया की व्यवस्था ऐसी है कि आत्मा पर को अपने ज्ञान के आकाररूप से जानती है, इस अपेक्षा से यह कह सकते हैं कि आत्मा पर को नहीं जानती और मात्र अपने ज्ञेयाकार को ही जानती है। वास्तव में स्व-पर को जानना आत्मा का स्वभाव होने से, आत्मा का लक्षण होने से, आत्मा की पहचान होने से हम कह सकते हैं कि आत्मा स्व-पर को जानती है। पर को जानते वख़्त आत्मा पर को स्व से भिन्न जानती है। स्वयं ज्ञानाकाररूप होने के बावजूद वहाँ स्व-पर का भेद होने से उसे व्यवहार कहा जाता है (अभेद=निश्चय, भेद=व्यवहार)। न कि उपचारमात्र व्यवहाररूप। सबको अपनी-अपनी ग़लत समझ वस्तुव्यवस्था को यथायोग्य समझकर दूर कर देनी चाहिये और एकान्त से बचना चाहिये।

१७. **प्रश्न** — कई लोग आत्मा पर को नहीं जानती ऐसा कहकर अपनी आत्मा में जाने की सीढ़ी को ही नकार देते हैं और सोचते हैं कि इस मान्यता से सम्यग्दर्शन हो जायेगा। क्या यह सत्य है?

उत्तर — आत्मा की जानन-क्रिया की व्यवस्था ऐसी है कि आत्मा पर को अपने ज्ञान के आकाररूप से जानती है। इस अपेक्षा से आत्मा पर को नहीं जानती मगर अपने ज्ञेयाकार को ही जानती है ऐसा कह सकते हैं। यह व्यवस्था होने के बावजूद जब हम उसे एकान्त से ऐसा मानकर चलते हैं तब हम अपनी आत्मा में जाने की सीढ़ी को ही नकार देते हैं। यह सत्य है। मगर अज्ञानी जीव स्व को तो जानता ही नहीं। अगर वह यह मान्यता रखेगा कि आत्मा पर को नहीं

जानती तब वह आत्मा के लक्षण को ही नकार देगा अर्थात् आत्मा के अस्तित्व को, आत्मा की पहचान को ही नकार देगा। ऐसा मानकर आत्मा कैसे सम्यग्दर्शन यानी आत्मा का अनुभव कर पायेगी? अर्थात् सम्यग्दर्शन पाने की सम्भावना दुर्लभ और दुष्कर हो जायेगी। इसलिये आत्मा पर को नहीं जानती ऐसा मानने से सम्यग्दर्शन हो जायेगा यह बात सत्य नहीं है।

१८. **प्रश्न** — कई लोग क्रमबद्धपर्याय के निर्णय को, उसके प्रति श्रद्धा को सम्यग्दर्शन मानते हैं। अन्य कई लोग क्रमबद्धपर्याय को नियतिवाद मानते हैं। सत्य क्या है?

उत्तर — भगवान के ज्ञान में तीनों काल की पर्यायें झलकती हैं। इसलिये कहा जा सकता है कि सभी पर्यायें क्रमबद्ध हैं। तभी तो वे केवली के ज्ञान में ज्ञेय बनती हैं। केवल इसी अपेक्षा से क्रमबद्धपर्याय को सही कहा जा सकता है। परन्तु क्रमबद्धपर्याय के प्रति श्रद्धा को सम्यग्दर्शन मानना ग़लत होगा क्योंकि सम्यग्दर्शन के लिये आत्मानुभूति परम आवश्यक है न कि भगवान के ज्ञान का निर्णय। यदि हम ऐसा कहें कि वे पर्यायें केवली के ज्ञान के ज्ञेय बनी हैं इसलिये वैसी घटनेवाली हैं तो यह हमारी ग़लत समझ होगी। वे पर्यायें पाँच समवायपूर्वक ही वैसी घटनेवाली हैं इसलिये वे केवली के ज्ञान में ज्ञेय बनी हैं, किसी अन्य कारण से नहीं। पाँचों समवायों में से नियति को तो हम जानते ही नहीं। न ही नियति हमारे ज्ञान का विषय है। हमारे हाथ में एकमात्र पुरुषार्थ ही है, वही प्रधान है। इसलिये हमारे लिये योग्य पुरुषार्थ करना ही उचित होगा क्योंकि भगवानने क्या देखा है यह हमें ज्ञात नहीं है। इसे हम अपेक्षा से नियति भी कह सकते हैं, क्रमबद्धपर्याय भी कह सकते हैं। परन्तु एकान्त से क्रमबद्धपर्याय को सही मानना अवश्य ही नियतिवाद कहलायेगा। भगवानने जो भी देखा है वह बिना पुरुषार्थ के तो होगा ही नहीं। इसलिये हमें अपना पूरा ध्यान योग्य पुरुषार्थ पर लगाना है न

कि क्रमबद्धपर्याय पर जो हमें ज्ञात ही नहीं है। हाँ, पूरा ज़ोर लगाकर योग्य पुरुषार्थ करने के बाद जो भी परिणाम आता है उसे हमें अवश्य ही क्रमबद्धपर्याय (या नियति) मानकर स्वीकार लेना है। सच में तो क्रमबद्धपर्याय पाँचों समवायपूर्वक ही होता है यानी उसमें पाँचों समवाय समाहित होते हैं। भगवानने पाँचों समवाय देखे है, पाँचों समवाय पूर्वक ही पर्याय को देखी है।

१९. **प्रश्न** — **'समयसार'** ग्रन्थ में बतायी एकत्व-विभक्त आत्मा यानी क्या? ज्ञानी का किससे एकत्व, किससे विभक्त समझना चाहिये?

उत्तर — **'समयसार'** ग्रन्थ में एकत्व-विभक्त आत्मा जीव को सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) बनाने के लिये बतायी गयी है। जब कोई मिथ्यादृष्टि जीव राग-द्वेषरूप परिणम रहा हो तब उस राग-द्वेषरूप परिणमित जीव में से (प्रमाण के द्रव्य में से) राग-द्वेष को गौण करते ही यानी विभक्त करते ही जो शेष जीवभाव है (परमपारिणामिकभाव है) उससे एकत्व करना है। यही **'समयसार'** का सार है, यही आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित सम्यग्दर्शन

की विधि है। परमपारिणामिकभाव में एकत्व और विभाव से विभक्त यानी विभाव को गौण करना। विभक्त यानी भिन्न नहीं अर्थात् उसको अपना नहीं मानना ऐसा नहीं परन्तु उसे एकत्व करने लायक नहीं समझना क्योंकि वह आत्मा का त्रिकालस्वरूप नहीं है। इस तरह अपने त्रिकालस्वरूप से एकत्व और क्षणिकस्वरूप से विभक्त समझना चाहिये।

२०. प्रबुद्ध जीवों को यह समझना चाहिये कि खीर के भगोने में एक बूँद भी विष गिर गया तो वह खीर खाने लायक नहीं रहती। इसी प्रकार अध्यात्ममार्ग में असत्य प्ररूपणा की ज़रा-सी बूँद भी पड़ जाये तो वह मार्ग साधक के लिये विषाक्त खीर के समान ज़हरीला हो जायेगा।

२१. जब भी कोई कार्य होता है तो उसमें पाँचों समवायों का योगदान होता है। मुख्य-गौण न करते हुए एकान्त से किसी एक समवाय को उस समूचे कार्य की निष्पत्ति का श्रेय देना मिथ्यात्व होगा। इकट्ठा पाँचों समवायों को कार्यनिष्पत्ति का श्रेय देना सम्यक् होगा।

२२. **प्रश्न** — **'समयसार'** ग्रन्थ में बताये अनुसार पाप, पुण्य, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इत्यादि आत्मा से भिन्न हैं क्या? क्या ये सभी आत्मा की अवस्थाएँ नहीं हैं?

उत्तर — पाप, पुण्य, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इत्यादि अवश्य ही आत्मा की अवस्था-विशेष हैं। आत्मा की अवस्था यानी आत्मा का वर्तमान अर्थात् आत्मा का विशेषभाव। कोई भी द्रव्य अपने वर्तमान के बिना नहीं होता। सो आत्मा भी अपने वर्तमान सहित ही होती है। इसलिये बेशक पाप (अशुभभाव), पुण्य (शुभभाव), आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इत्यादि सभी आत्मा की अवस्थाएँ होने से आत्मा में ही हैं; उससे भिन्न क़तई नहीं है, यह समझना परम आवश्यक है। **'समयसार'** ग्रन्थ में इन सबको कुछ कारण-विशेष से यानी कि मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) की अनुभूति बताने के लिये आत्मा से भिन्न बताया गया है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि को इन सबसे भेदज्ञान होकर परमपारिणामिकभाव से एकत्व होता है। यही **'समयसार'** का सार है। आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित यही सम्यग्दर्शन की विधि है। सम्यग्दृष्टि जीव परमपारिणामिक-भाव से एकत्व करता है और विभाव से विभक्त होता है यानी विभाव को गौण करता है। विभक्त यानी भिन्न नहीं अर्थात् उसको अपना नहीं मानना ऐसा नहीं परन्तु उसे एकत्व करने के लायक नहीं समझना क्योंकि वह आत्मा का त्रिकालस्वरूप नहीं है। इस तरह

अपने को त्रिकालस्वरूप से एकत्व और क्षणिकस्वरूप से विभक्त समझना चाहिये। यही **'समयसार'** का सार है।

२३. **प्रश्न** — **'समयसार'** ग्रन्थ में बताये अनुसार पाप, पुण्य, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इत्यादि आत्मा से भिन्न हैं। तब क्या हमें मोक्ष के लिये यथायोग्य पुरुषार्थ करना ही नहीं है?

उत्तर — पाप, पुण्य, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इत्यादि को **'समयसार'** ग्रन्थ में कुछ कारण-विशेष से यानी कि मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) की अनुभूति बताने के लिये आत्मा से भिन्न बताया गया है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव को इन सबसे भेदज्ञान होके परमपारिणामिकभाव से एकत्व होता है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि ये सब आत्मा से भिन्न होने से अर्थात् आत्मा में नहीं होने से हमें किङ्कर्तव्यविमूढ होकर संसार में भटकना है। हर समय अशुभ से बचकर शुद्ध के लक्ष्य से शुभ में रहते हुए पहले आत्मप्राप्ति के लिये और बाद में आत्मस्थिरता के लिये यथायोग्य पुरुषार्थ करना ही हमारा कर्तव्य है। मूढमति अज्ञानी जीव यह बात नहीं समझते हैं इसलिये वे अनादि से संसार में भटक रहे हैं। हमें इस रहस्य को भलीभाँति समझकर निरन्तर यथोचित पुरुषार्थ करना चाहिये।

२४. **प्रश्न** — द्रव्यदृष्टि में पर्याय का क्या होता है? क्या पर्याय उसमें शामिल है?

उत्तर — जब हम द्रव्यदृष्टि से जीव को देखते हैं तब पर्याय स्वयमेव ही गौण हो जाती है अर्थात् द्रव्य में अन्तर्गर्भित हो जाती है। द्रव्य सदैव अपने वर्तमानसहित ही होता है, वह अपने वर्तमान के बिना तो अपना अस्तित्व ही गँवा बैठेगा, यानी कि द्रव्य ही नहीं रहेगा। इसलिये द्रव्य सदैव अभेद ही होता

है न कि भेदवाला यानी पर्यायरहित/खण्डित। खण्डित द्रव्य तो आकाशकुसुमवत होता है यानी केवल भ्रम ही होता है।

२५. **प्रश्न** — पर्यायदृष्टि में द्रव्य का क्या होता है? यानी द्रव्य पर्यायदृष्टि में शामिल है या नही?

उत्तर — जब हम पर्यायदृष्टि से जीव को देखते है तब द्रव्य स्वयमेव गौण हो जाता है अर्थात् पर्याय में अन्तर्गर्भित हो जाता है। पर्याय यानी द्रव्य की वर्तमान अवस्था, वह बिना द्रव्य के कैसे हो सकती है? कभी नहीं हो सकती। इसलिये पर्याय सदैव द्रव्य की ही होती है न कि द्रव्यरहित भेदवाली, यानी खण्डित पर्याय। खण्डित पर्याय तो आकाशकुसुमवत होती है यानी केवल भ्रम ही होती है।

२६. **प्रश्न** — **'समयसार'** ग्रन्थ में आत्मा को अकर्ता कहा है और आचार्य हरिभद्र सूरि रचित छह पदों में आत्मा को कर्ता कहा है। तब सत्य क्या है?

उत्तर — अपेक्षा से दोनों ही बाते सच हैं मगर अपेक्षा समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लत समझ नयों का यथायोग्य ज्ञान न होने से पनपी है। वास्तव में संसारी आत्मा अपने भावकर्मों तथा अपने ज्ञान की कर्ता है और मोक्षस्थ आत्मा केवल अपने ज्ञान की कर्ता है। परन्तु **'समयसार'** ग्रन्थ में कुछ कारणविशेष से यानी मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) जीव की स्वात्मानुभूति समझाने के लिये आत्मा को अकर्ता बताया है क्योंकि परमपारिणामिकभाव सामान्यभाव होने से परम अकर्ता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी **'समयसार'** पर रची अपनी आत्मख्याति टीका श्लोक २०५ में अज्ञानी को नियम से कर्ता कहा है, जबकि ज्ञानी को परम अकर्ता कहा है। इस तरह

सम्यग्दृष्टि को कर्ताभाव से यानी विशेषभाव से भेदज्ञान होकर परमपारिणामिकभाव से एकत्व होता है। यही **'समयसार'** का सार है, आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित यही सम्यग्दर्शन की विधि है।

२७. **प्रश्न** — **'समयसार'** ग्रन्थ में आत्मा और क्रोधादि आस्रवों में विशेषान्तर जानने को कहा है, तो उनमें विशेषान्तर क्या है? उसे जानने का फल क्या है?

उत्तर — आत्मा का जो त्रिकाल स्वभाव है वह ज्ञानस्वभाव है और आत्मा में होने वाले क्रोधादि आस्रव है वह आगन्तुक स्वभाव है यानी वह त्रिकाल नहीं है पर कुछ काल के लिये ही होता है। आत्मा का त्रिकाल स्वभाव हर आत्मा में विद्यमान होता है परन्तु जो क्रोधादि आस्रवभाव हैं वे हर आत्मा में विद्यमान नहीं होते। अन्य रीति से कहें तो क्रोधादि आस्रव विशेषभाव हैं और त्रिकाली स्वभाव सामान्यभाव है। यह है आत्मा और क्रोधादि आस्रवों में विशेषान्तर, उसे समझकर आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित जिस जीव का आत्मा के त्रिकाल स्वभाव से एकत्व (अहं) होता है तब क्रोधादि आस्रव स्वत: गौण हो जाते हैं और वह जीव सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) बन जाता है। यही आत्मा और क्रोधादि आस्रव के विशेषान्तर समझने का फल है। यही **'समयसार'** का सार है, यही आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित सम्यग्दर्शन की विधि है।

३. समयसार के बारे में

१. समयसार ग्रन्थ में कहा है कि हमने अनादि से बन्धकथा कई बार सुनी है और सुनायी भी है परन्तु आत्मा के भेदज्ञान की कथा कभी नहीं सुनी। या तो उसका विचार ही नहीं किया या फिर उसका उल्टा ही विचार किया। अर्थात तत्त्व के विचार में विपरीतता ही रही है। जैसे कि किसी ने अपनी आत्मा को एकान्त से शुद्ध ग्रहण किया है और किसी ने अपनी आत्मा को एकान्त से अशुद्ध ग्रहण किया। वास्तव में आत्मा पर्यायदृष्टि से अशुद्ध है और द्रव्यदृष्टि से शुद्ध है। बिना अपेक्षा समझे न तो समयसार ग्रन्थ समझ में आयेगा और न ही आत्मकल्याण हो पायेगा। यही अपनी अनादि की कहानी है।

२. राग-द्वेष की कथा, भक्तकथा, देशकथा, शौर्यकथा, विकथा आदि तो बन्धकथा हैं ही परन्तु यदि बिना मोक्ष के लक्ष्य से ज्ञानावरणादि कर्मों की कथा कर रहे हों तो उसे भी बन्धकथा में ही शामिल किया जा सकता है क्योंकि अगर हम यह जानकारी आत्मप्राप्ति यानी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये उपयोग में नहीं लाते तो हम अनादि के दु:खों के विषचक्र से मुक्त नहीं हो सकते यानी अनादि के कर्मों के विषचक्र से मुक्त नहीं हो सकते। इसलिये सभी मुमुक्षु जीवों को अपना पूरा पुरुषार्थ आत्मप्राप्ति में ही लगाना चाहिये।

३. समयसार ग्रन्थ में एकत्व-विभक्त आत्मा की बात की गयी है। यानी वैराग्यादि योग्यतासहित आत्मसन्मुखता पाकर शुद्धात्मा से एकत्व यानी मैंपन तथा पुद्गलकर्मों से और उन कर्मों के कारण होनेवाले अपने भावों से विभक्त यानी अन्यत्व यानी भेदज्ञान करना है। ऐसा करते ही योग्यताप्राप्त जीवों को आत्मानुभूति होती है। परन्तु बिना आत्मा की योग्यता के यदि कोई ऐसा कई

बार भी करता है तो भी उसे आत्मानुभूति नहीं होती उल्टे उसके भ्रमित होने की सम्भावना बनी रहती है।

४. समयसार ग्रन्थ में पर को दो भागों में बाँटा गया है - एक वर्णादि पुद्गल के भाव और दूसरे कर्मों के कारण होनेवाले जीव के रागादि भाव। इन दोनों से जब जीव वैराग्यादि योग्यतासहित आत्मसन्मुखता पाकर भेदज्ञान करता है तब उसे आत्मानुभूति हो सकती है। बिना आत्मा की योग्यता के यदि कोई ऐसा कई बार भी करता है तो भी उसे आत्मानुभूति नहीं होती उल्टे उसके भ्रमित होने की सम्भावना बनी रहती है।

५. समयसार ग्रन्थ में प्रमुखतः परम शुद्ध निश्चयनय के विषय यानी शुद्धात्मा का वर्णन है, उस शुद्धात्मा को ही आत्मा कहा गया है। बाक़ी सभी वर्णादि पुद्गल के भाव और दूसरे रागादि जीव के कर्मों के कारण होनेवाले भावों से भेदज्ञान कराया है। परन्तु बिना आत्मा की योग्यता के यदि कोई ऐसा शब्दों से कई बार भेदज्ञान करने की कोशिश करता है तो भी उसे आत्मानुभूति नहीं होती उल्टे उसके भ्रमित होने की सम्भावना बनी रहती है।

६. समयसार ग्रन्थ में मुख्यतः ज्ञानसामान्यभाव रूपी ज्ञायक को ही आत्मा बताया है। इसलिये कहा है कि उसमें पहले से छठवें गुणस्थान तक होनेवाले प्रमत्तभाव, और सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक होनेवाले अप्रमत्तभाव भी नहीं हैं। कई लोग उसे पर्यायरहित द्रव्य भी कहते हैं। परन्तु समझने की बात यह है कि द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से वस्तु अभेद होने के कारण से उसमें से पर्याय को निकालना शक्य ही नहीं है। पर्याय तो गौण करनी पड़ती है।

७. समयसार ग्रन्थ में मुख्यतः ज्ञानसामान्यभाव रूपी ज्ञायक को ही आत्मा बताया है। इस अपेक्षा से आत्मा में रागादि विशेषभाव नहीं है ऐसा भी बताया है

परन्तु यदि कोई जीव स्वयं को एकान्त से ऐसा रागादिरहित मानता है तो वो मिथ्यात्व में परिणमता है। इसलिये सभी को उसे जैसा यथातथ्य बताया है वैसा ही अनेकान्त से समझना है और मानना है।

८. समयसार ग्रन्थ में मुख्यत: ज्ञानसामान्यभाव रूपी ज्ञायक को ही आत्मा बताया है क्योंकि वैसा ज्ञायकभाव ही अनुभूति का विषय है। आत्मानुभूति में कोई भी विशेषभाव नहीं होने से आत्मानुभूति निर्विकल्प होती है, उसे ही समयसार में शुद्धनय बताया है। उस शुद्धनय प्राप्त जीव को यानी सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) जीव को अभेद शुद्धात्मा ही उपादेय बताया है जो शुद्धनिश्चयनय का विषय है। इसलिये ज्ञानी को निश्चयनय का आलम्बन लेने योग्य बताया है और अज्ञानी को आत्मानुभूति न होने के कारण व्यवहारनय से उपदिष्ट करने को कहा है क्योंकि उसे अभी तक शुद्धनय की प्राप्ति हुई नहीं है। इसलिए वह शुद्धनय का आलम्बन नहीं ले सकता। उसके लिये व्यवहारनय उपयोगी बताया है। इस बात को न समझने के कारण कई उपदेशक अज्ञानी को भी निश्चयनय का ही उपदेश देते हैं।

९. समयसार ग्रन्थ में आत्मा को पुद्गल कर्मों से, कर्मों के निमित्त से होनेवाले जीव के भावकर्मों से और नोकर्मों से भिन्न बताया है क्योंकि वही जीव आत्मानुभूति का विषय है। पुद्गल कर्म और नोकर्म तो आत्मा से त्रिकाल भिन्न ही हैं परन्तु कर्मों के निमित्त से होनेवाले जीव के रागादिभाव जीव में ही होते हैं। चूँकि वे रागादिभाव जीव के त्रिकालभाव नहीं हैं और आत्मानुभूति का विषय तो जीव का त्रिकालभाव ही होता है इसलिये उन भावकर्मों को उस अपेक्षा से जीव के नहीं हैं ऐसा बताया है। इसलिये यह बात ज्ञानी की अपेक्षा से कही गयी है। यदि अज्ञानी इस बात का अनुभव न होने पर भी शब्दों से कहने लगता है

और मानने लगता है तो यह उसका महामिथ्यात्व होगा, यह समझना परम आवश्यक है।

१०. पुद्गल कर्म जीव के विशेषभावों में ही निमित्त बनते हैं न कि जीव के सामान्यभावों में और समयसार जैसे ग्रन्थ का हार्द है ज्ञानसामान्यभाव यानी द्रव्यात्मा यानी शुद्धात्मा। समयसार ग्रन्थ में मुख्यत: जीव के सभी विशेषभावों को अनात्मा कहा गया है क्योंकि उन विशेषभावों से भेदज्ञान करने से ही समयसाररूप ज्ञानसामान्यभाव की अनुभूति होती है और समयसार में प्रमुखत: समयसाररूप ज्ञानसामान्यभाव को अनुभव करनेवाले ज्ञानी का ही वर्णन है। इसलिये कर्ता-कर्म अधिकार में भी केवल उपादान की अपेक्षा से ही कर्ता-कर्म की बात कही है। निमित्त को कर्ता के रूप में नहीं स्वीकारा है।

११. कर्म पुद्गलवर्गणाओं से बने हैं इसलिये वे जड़ हैं, कर्मों के निमित्त से होनेवाले जीव के भाव आत्मा के परिणमन होने से चेतन हैं और नोकर्म यानी जीव का शरीर, पत्नी, पुत्र, परिवार, घर, सम्पत्ति आदि जो जीव को कर्मों के कारण मिलते हैं, वे जड़, चेतन या मिश्र होते हैं। जब आत्मानुभूति होती है तब इन तीनों से परे शुद्धात्मा का अनुभव होता है। बिना आत्मानुभूति के कोई यदि स्वयं को शुद्धात्मा मानने लगता है तो उसे भ्रम होता है, उसे लगता है कि वह ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) है। वास्तव में वह निश्चयाभासी है यानी उसे शुद्धनय का केवल भास होता है, अनुभूति नहीं। इसलिये सभी मुमुक्षुओं को पहले आत्मा की वैराग्यादि योग्यता पाकर आत्मसन्मुख होने का प्रयास करना चाहिये, स्वयं को शुद्धात्मा मान लेने का प्रयास नहीं करना चाहिये अन्यथा वे निश्चयाभासी ही होंगे।

१२. जब किसी जीव को आत्मानुभूति होती है, तब उसे सामान्यभाव का यानी द्रव्यात्मा का यानी शुद्धात्मा का अनुभव होता है। तब उस जीव का मैंपन उस शुद्धात्मा से स्थापित होता है। वह शुद्धात्मा से मैंपन अनुभूति के काल में उपयोगरूप से होता है और बाद में जब तक सम्यग्दर्शन रहता है तब तक वह मैंपन लब्धरूप से होता है। इस तरह उस जीव को शुद्धात्मा से मैंपन कभी उपयोगरूप से और कभी लब्धरूप से होता है। जब उसे शुद्धात्मा से मैंपन लब्धरूप से होता है तब वह पर्याय का ज्ञाता होता है। इस प्रकार उस जीव को ज्ञाताद्रष्टा कहा जाता है। यदि कोई बिना आत्मानुभूति के स्वयं को ज्ञाताद्रष्टा मानता है या ज्ञाताद्रष्टा होने का ध्यान करता है तो वह भ्रमित है।

१३. जब कोई जीव बिना आत्मानुभूति के स्वयं को ज्ञाताद्रष्टा मानता है या ज्ञाताद्रष्टा होने का ध्यान करता है तब वह जीव पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि कहलाता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि को केवल पर्याय का ही अनुभव होता है, द्रव्य का अनुभव नहीं होता। वास्तव में यदि वह अज्ञानी अध्यात्ममार्ग में प्रगति करना चाहता है तो उसे अपने वर्तमान परिणमन के प्रति उदासीन न रहते हुए उसे सत्यधर्म के अनुकूल बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिये। उदाहरणार्थ, जब हमें बुख़ार आता है तब हम उस स्थिति में सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा नहीं रहते बल्कि हम उसका इलाज करते हैं। वैसे ही अज्ञानी को भी अपनी पर्याय के प्रति उदासीन न रहते हुए उसका अध्यात्ममार्ग के अनुकूल यथार्थ इलाज करना चाहिये।

१४. समस्त संसारी जीवों को सभी संयोग अपने कर्मों के अनुसार ही मिलते हैं। इसलिये सभी संसारी जीवों को कौनसे संयोग मिलेंगे उसमें वे पराधीन हैं, परवश हैं। परन्तु वे अपनी प्रतिक्रिया देने में स्वतन्त्र हैं। इसी लिये जीव मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। कोई भी जीव मोक्षप्राप्ति के लिये अध्यात्ममार्ग के अनुकूल अपने

परिणमन का यथार्थ इलाज बारह भावना, चार भावना, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!), इत्यादि का आश्रय लेकर कर सकता है। इस प्रकार अज्ञानी को भी अपनी पर्याय के प्रति उदासीन न रहते हुए उसका अध्यात्ममार्ग के अनुसार यथार्थ इलाज करना चाहिये। ''हम तो ज्ञाताद्रष्टा हैं'' ऐसे भ्रम में रहकर मूढ़ नहीं बने रहना चाहिये।

१५. कई लोग ज्ञाताद्रष्टा बने रहने का ध्यान या अभ्यास करते हैं। उन्हें यह पता नहीं होता कि बिना आत्मा की अनुभूति के मिथ्यादृष्टि को केवल पर्याय का ही अनुभव होता है। इसलिये तो समयसार ग्रन्थ में अज्ञानी को कर्ता बताया है और ज्ञानी को अकर्ता बताया है। जब अज्ञानी पर्याय का कर्ता होता है तब वह पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा कैसे बन सकता है? कभी नहीं बन सकता। इसी लिये अज्ञानी के लिये ज्ञाताद्रष्टा रहने का ध्यान या अभ्यास भ्रम में ले जानेवाला बनता है और वह स्वयं के परिणमन का अध्यात्ममार्ग के अनुकूल यथार्थ इलाज भी नहीं कर सकता बल्कि वह केवल मूढ़ ही बना रहता है।

१६. बिना आत्मा की अनुभूति के मिथ्यादृष्टि को केवल पर्याय का ही अनुभव होता है इसलिये वह पर्याय का कर्ता होता है। और ज्ञानी को केवल शुद्धात्मा का ही अनुभव होता है इसलिये ज्ञानी का मैंपन भी उस शुद्धात्मा में ही होता है और पर्याय का वह केवल ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ता नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानी का सहज ही में ज्ञाताद्रष्टाभाव बना रहता है। इसलिये अज्ञानी को ज्ञाताद्रष्टा बनने का अभ्यास नहीं परन्तु आत्मानुभूति के लिये आत्मा की वैराग्यादि योग्यता पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये। जिससे वह आत्मसन्मुख होकर आत्मानुभूति प्राप्त कर सके।

१७. ज्ञानी का मैंपन केवल शुद्धात्मा में ही होने के कारण वह पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ता नहीं। इसलिये ज्ञानी को बन्धभाव में मैंपन न होने के कारण ज्ञानी को बन्ध नहीं होता ऐसा कहा जाता है क्योंकि ज्ञानी बन्धभाव की पर्याय का कर्ता नहीं है केवल ज्ञाताद्रष्टा ही है। जबकि अज्ञानी को केवल पर्याय का ही अनुभव होने के कारण उसका मैंपन भी पर्याय में ही होता है इसलिये वह पर्याय का कर्ता होता है यानी बन्ध का भी कर्ता होता है।

१८. अनादि से मेरी ग़लती के कारण से ही मैं संसार में भटक रहा हूँ। अनादि से मैंने कभी अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग अपनी आत्मा के उत्थान के लिये नहीं किया। इसलिये कहा जा सकता है कि अपने संसार और मोक्ष के लिये मैं ही स्वयं ज़िम्मेदार हूँ। यह समझ बनाकर अब सभी साधकों को आत्मा की वैराग्यादि योग्यता पाकर आत्मसन्मुख होकर आत्मानुभूति पाने का ही पुरुषार्थ करना चाहिये।

१९. ज्ञानी को सिर्फ़ शुद्धभाव का ही आदर होता है यानी केवल शुद्धात्मा में ही रहने का अभिप्राय होता है परन्तु जब तक वह शुद्धात्मा में नहीं रह सकता तब तक वह शुभभाव में रहता है। हालाँकि अज्ञानी को अभी तक शुद्धभाव का अनुभव ही नहीं है परन्तु उसे भी लक्ष्य में शुद्धभाव ही रखना चाहिये और जब तक उसे शुद्धभाव नहीं मिलता तब तक उसे केवल शुभभाव में ही रहना है। यह समझ नहीं होने के कारण कई अज्ञानी जीव शुभ और अशुभ को एक समान मानकर अशुभ में भी बिना कोई अफ़सोस के मज़ा लेते हुए रहते हैं जिसकी वजह से वे अनन्त संसार में भटकते हैं।

२०. समयसार की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र बताते हैं कि आत्मज्ञान के अभाव में शुद्धात्मा का श्रद्धान न जाने हुए गधे के सींग पर श्रद्धान के समान होने

के कारण सम्यक् श्रद्धान नहीं होता। यानी वह श्रद्धान केवल कल्पना ही होता है। इसलिये आत्मा सधती नहीं, आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। ऐसा होने पर भी कई उपदेशक अज्ञानी को भी "मैं शुद्धात्मा हूँ" यह मानने को कहते हैं या जाप जपने को कहते हैं या धारणा करने को कहते हैं या निर्णय करने को कहते हैं। बिना आत्मा की वैराग्यादि योग्यता के और बिना आत्मसन्मुखता पाये आत्मानुभूति नहीं होती यानी आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता क्योंकि तब तक जीव बहिरात्मा ही है और बहिरात्मा को आत्मानुभूति नहीं होती।

२१. जब तक जीव को आत्मज्ञान नहीं हो जाता तब तक उस जीव को शुद्धात्मा का अनुभवयुक्त ज्ञान नहीं होता केवल शाब्दिक ज्ञान ही होता है। शुद्धात्मा का शाब्दिक ज्ञान हमने कई बार पाया है परन्तु यदि अनुभवयुक्त ज्ञान नहीं पाया तो मोक्षमार्ग में प्रवेश नहीं मिलता। शाब्दिक ज्ञान से तो कई बार जीव ठगा भी जाता है, उसे लगता है जैसे उसने आत्मप्राप्ति कर ली है परन्तु वास्तव में वह निश्चयाभासरूपी भ्रम में जी रहा है।

२२. जिसे संसार में डूबे हुए जीव सुख मानते हैं, वास्तव में तो वह दुःख ही है क्योंकि वह सुख (सुखाभास) भी दुःखपूर्वक ही होता है। वैसा सुख भोगते हुए आकुलता का दुःख होता है, उस सुख को भोगने के बाद उसके अभाव का दुःख होता है और उस सुख को भोगते वक़्त बाँधे हुए पापों से भविष्य में भी दुःख मिलता है। ऐसे सुख को हम सुख कैसे मान सकते हैं? नहीं मान सकते। इसलिये सभी साधकों/मुमुक्षुओं को सच्चे सुख की खोज करनी चाहिये। उसके लिये उन्हें सबसे पहले आत्मा की वैराग्यादि योग्यतापूर्वक आत्मसन्मुखता पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये जिससे उन्हें आत्मानुभूति और सच्चा सुख प्राप्त हो सके।

२३. जैसे हिरण मरीचिका के पीछे भागता है, वैसे ही हम भी सुखाभास को सुख मानकर उसके पीछे अनादि से भाग रहे हैं। फलस्वरूप हमें अनन्त दु:खमय संसार ही मिला है। इसलिये अब हमें इस सुखाभास को पहचानकर उसके पीछे भागना बन्द करके सच्चे सुख की खोज करनी चाहिये। उसके लिये हमें सबसे पहले आत्मा की वैराग्यादि योग्यतापूर्वक आत्मसन्मुखता पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये, जिससे हम आत्मानुभूति और सच्चा सुख प्राप्त कर सकें।

२४. जानना-देखना आत्मा का लिंग है यानी आत्मा की पहचान है परन्तु जानने-देखने की क्रिया आत्मा के विशेषभाव में ही होती है, सामान्यभाव में नहीं। आत्मानुभूति केवल सामान्यभाव की ही होती है, विशेषभाव की नहीं। इसलिये आत्मानुभूति में आनेवाली शुद्धात्मा को समयसार ग्रन्थ में अलिंगग्राह्य बताया है क्योंकि समयसार में मुख्यत: आत्मानुभूति की विषयभूत शुद्धात्मा का ही आत्मा के रूप में वर्णन किया गया है।

२५. जीव और शरीर, वर्णादि का एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध तो होता है परन्तु तादत्म्य सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि वे दोनों सिर्फ़ कुछ काल के लिये साथ रहते हैं, तीनों काल साथ नहीं रहते। अभव्य जीवों के भी शरीर के पुद्‌गल बदलते रहते हैं यानी वे एकमेवाद्वितीय नहीं हो जाते।

२६. जीव और पुद्‌गल का अनादि से सम्बन्ध है इसलिये जीव को कई शास्त्रों में कथंचित्‌ रूपी भी कहा है। यदि जीव को एकान्त से अरूपी मान लें तो उसका पुद्‌गल के साथ अनादि से बन्धन कैसे हो सकता है? इस अनादिबन्धन की अपेक्षा से जीव को कथंचित्‌ रूपी और कथंचित्‌ अरूपी कहा गया है। यह समझना आवश्यक है।

२७. जीव के जो एकेन्द्रियादि, बादर-सुक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त आदि भेद बताये हैं वे केवल जीव के विशेषभाव ही हैं। उससे जीव की वर्तमान स्थिति, गति आदि बतायी जाती है। परन्तु ये सभी आत्मानुभूति की विषयभूत शुद्धात्मा में नहीं होते क्योंकि शुद्धात्मा सामान्यभावरूप होती है और ये सभी जीव के विशेषभाव हैं। इसलिये समयसार में बताया है कि ये सभी आत्मा नहीं हैं क्योंकि समयसार में मुख्यतः आत्मानुभूति की विषयभूत शुद्धात्मा का ही आत्मा के रूप में वर्णन किया गया है।

२८. समयसार में बताया है कि गुणस्थान पौद्‌गलिक मोहनीय कर्मों के उदय से बनते हैं तो वे जीव कैसे हो सकते हैं क्योंकि यदि वे अचेतन कर्मों के कार्य हैं तो अचेतन ही होंगे न? जीव का पौद्‌गलिक मोहनीय कर्मों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है इसलिये जब जीव अपनी योग्यता से गुणस्थानरूप से परिणमता है तब वे पौद्‌गलिक मोहनीय कर्म निमित्त बनते हैं। परन्तु गुणस्थान विशेषभाव होने के कारण आत्मानुभूति के विषय शुद्धात्मा में नहीं होते क्योंकि शुद्धात्मा सामान्यभावरूप ही होती है और गुणस्थान जीव के विशेषभाव हैं। इसलिये समयसार में बताया है गुणस्थान आत्मा नहीं है क्योंकि समयसार में मुख्यतः आत्मानुभूति की विषयभूत शुद्धात्मा का ही आत्मा के रूप में वर्णन किया गया है।

२९. समयसार ग्रन्थ में बताया है कि जब तक जीव आत्मा और आस्रव का भेद नहीं जानता तब तक वह अज्ञानी क्रोधादिक आस्रव में प्रवृत्ति करता है। हमने कई बार शब्दों से तो आत्मा और आस्रव के भेद को जाना परन्तु शुद्धात्मा की अनुभूतिपूर्वक आत्मा और आस्रव के भेद को नहीं जाना इसी लिये हम अनादि से इस संसार में भटक रहे हैं। यदि सिर्फ़ शब्दों से आत्मा और आस्रव के भेद

को जान लेने से अपनी मुक्ति हो जाती तो हम अभी तक यहाँ नहीं होते, सिद्ध बन गये होते। अनुभूतिपूर्वक आत्मा और आस्रव के भेद को जानने के लिये हमें सबसे पहले आत्मा की वैराग्यादि योग्यतापूर्वक आत्मसन्मुखता पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये, जिससे हम आत्मानुभूति द्वारा आत्मा और आस्रव के भेद को जानकर क्रोधादि आस्रवों से मुक्त हो सकें।

३०. व्यवहार से भगवान ने चार शरण बताये हैं - अरिहन्त, सिद्ध, साधु और सत्यधर्म। निश्चय से जिसने अपनी आत्मा प्राप्त की है उसके लिये अपनी शुद्धात्मा ही शरण है। कई लोग पुण्य को ही धर्म मानते हैं परन्तु बिना आत्मानुभूति के लक्ष्यवाला पुण्य जीव को भवभ्रमण से छुड़ा नहीं सकता। इसलिये हम पुण्य को शरण नहीं मान सकते परन्तु आत्मानुभूति के लक्ष्यपूर्वक बँधा पुण्य मोक्षमार्ग में अवश्य ही सहायक हो सकता है।

३१. अनादि से ही जीव के एक तरफ़ गहरी खाई है और दूसरी तरफ़ मोक्षमहल है। एक तरफ़ खाईवाली ढलान होने के कारण अनादि से जीव इस संसाररूपी खाई में गिरकर अनन्त दु:खों को झेल रहा है। अब उस जीव को तय करना है कि उसे क्या चाहिये? एक तरफ़ अनन्त दु:ख हैं और दूसरी तरफ़ अनन्त सुख है। जीव अनादि से चाहता तो सुख है परन्तु संसार के लिये ही पुरुषार्थ करता रहता है, इसलिये अनन्त दु:ख पाता है। अनन्त दु:खों से छुटकारा पाने के लिये उसे सबसे पहले संसार के सत्यस्वरूप को समझकर अपना बहिरात्मपन दूर करना है और वैराग्यपूर्वक आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति प्राप्त करनी है।

३२. अनादि से जीव सुख को बाहर ढूँढ़ता है जबकि जीव का सुख जीव के बाहर कैसे हो सकता है? जैसे कस्तूरी मृग कस्तूरी को बाहर ढूँढ़ता है वैसे ही जीव भी अपने भीतर मौजूद सुख को बाहर ढूँढ़ता है। जब कोई कुत्ता हड्डी

चबाता है तब वह हड्डी के कारण निकले अपने ख़ून को हड्डी से निकला हुआ ख़ून समझता है। ठीक उसी प्रकार जीव भी अनादि से भीतर के सुख को बाहर से मिलनेवाला सुख मानता है और विषयों के पीछे भागकर अपना अनन्त काल दु:खमय बना लेता है। यही हमारी अनादि की कहानी है।

३३. जीव चेतन है और कर्म अचेतन। मगर अनादि से दोनों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहा है। यद्यपि कर्म जीव को कभी भी अचेतन नहीं कर सकते तथापि वे जीव के अनन्त दु:खों के निमित्त अवश्य बन सकते हैं। यही अनादि से होता आ रहा है। कर्म यानी जीव के भूतकाल के अज्ञानयुक्त भाव ही उसके अनन्त दु:खों में निमित्त बनते हैं। इसलिये कर्मों को दोष न देते हुए अपना सत्यधर्म का पुरुषार्थ बढ़ाना ही दु:खों से मुक्ति का सही इलाज है।

३४. कार्य सदा उपादान सद्श ही होता है। जैसा उपादान होता है वैसा ही कार्य होता है। जैसे स्वर्ण से गहने बनेंगे तो वे स्वर्णमय ही होंगे और लोहे से बनेंगे तो वे लौहमय ही होंगे। वैसे ही ज्ञान के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं परन्तु अज्ञानी की समझ की विपरीतता ऐसी है कि ज्ञान से भी ऐसे कार्य करवाती है कि अनन्त भविष्य दु:खमय हो जाये।

३५. आत्मानुभूति सामान्यभाव में होती है, विशेषभाव में नहीं। सामान्यभाव निर्विकल्प होते हैं। नय विकल्पों में ही लगते हैं निर्विकल्प अवस्था में नहीं। इसलिये आत्मानुभूति निर्विकल्प तथा नयातीत होती है।

३६. पाप और पुण्य अपेक्षा से समान होते हैं। इसलिये उन्हें समयसार में एक समान बताया है। पाप और पुण्य आस्रव की अपेक्षा से समान हैं क्योंकि दोनों आस्रव हैं। पाप और पुण्य बन्ध की अपेक्षा से भी समान हैं क्योंकि दोनों का

आत्मा के साथ बन्ध होता है। पाप और पुण्य जीव की स्वभावस्थिरता में बाधक होते हैं इसलिये भी समान हैं। पाप और पुण्य आत्मस्वभाव से विपरीतता की अपेक्षा से भी समान हैं क्योंकि वे जीव के त्रिकालस्वभाव नहीं हैं, इसलिये उपादेय नहीं हैं। परन्तु इस समझ से विपरीत अर्थ ग्रहण करके, यानी पाप एवं पुण्य को समान रूप से हेय मानकर अगर कोई पुण्य को छोड़कर पाप में रहता है तो वह अनन्त काल के लिये दु:खों को आमन्त्रण देता है। ऐसा करना समझ की विपरीतता होगी... और यही हमारी अनादि की कहानी है।

३७. कई लोग समयसार में बताये गये ज्ञानी को सातवें गुणस्थानस्थित मानते हैं। उन्हें यह सोचना चाहिये की आचार्य कुन्दकुन्द चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को अज्ञानी क्यों कहेंगे? इसलिये समयसार ग्रन्थ में जहाँ भी ज्ञानी की बात कही है वहाँ चतुर्थादिगुणस्थानवर्ती जीव समझना चाहिये।

३८. कई लोग भूलवश शुद्धोपयोग को शुक्लध्यान मान लेते हैं जो कि आठवें गुणस्थान से ही शुरु होता है। वास्तव में शुद्धोपयोग सम्यक् ज्ञान है इसलिये वह चतुर्थादिगुणस्थानवर्ती जीव को आत्मानुभूति के काल में होता है।

३९. जो भी उपदेशक समयसार पर प्रवचन देते हैं वे प्राय: समयसाररूपी ध्येय का तो अच्छी तरह से वर्णन करते हैं, समझाते हैं। परन्तु प्राय: वे उस ध्येय को पाने के मार्ग के प्रति अनभिज्ञ होते हैं या लोगों को बताते नहीं हैं। क्योंकि जब कोई मुमुक्षु वैराग्यादि योग्यताओं को पाकर, इच्छाओं का नाश करके आत्मसन्मुख होता है तब उसे समयसाररूप आत्मा सहज ही अनुभव में आती है। यही विधि है समयसार को पाने की यानी सम्यग्दर्शन को पाने की।

४०. अनेक लोग समयसार में बताये गये स्वसमय जीव को सप्तमगुणस्थानस्थित जीव मानते हैं। यह समझ समयसार में ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्थित जीव को स्वसमय कहे जाने के कारण बनी है। लेकिन यहाँ केवल सामान्यभाव की बात की गयी है, न कि विशेषभाव की, अर्थात् पर्याय की या चारित्र की, क्योंकि समयसार में केवल सामान्यभाव, यानी द्रव्यात्मा को ही आत्मा कहा गया है, जिसमें सभी गुण विद्यमान हैं। उन सभी गुणों में से मुख्य तीन गुण लेकर यहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्थित जीव को स्वसमय कहा गया है। उस द्रव्यात्मा में जो भी जीव स्थित होता है, उसे स्वसमय जीव कहा गया है, इसलिये उसे चतुर्थादिगुणस्थानस्थित जीव मानना चाहिये। दूसरी बात, समयसार में कई जगह स्वसमय जीव को ज्ञानी के रूप में भी वर्णित किया गया है, इसलिये हमें यह भी सोचना चाहिये कि आचार्य कुन्दकुन्द चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव को अज्ञानी क्यों कहेंगे? इसलिए समयसार ग्रन्थ में जहाँ भी ज्ञानी या स्वसमयस्थित जीव की बात है, वहाँ चतुर्थादिगुणस्थानवर्ती जीव समझना चाहिये।

४१. समयसार की सातवीं गाथा में कहा गया है कि "शुद्ध ज्ञायक में न ज्ञान है, न दर्शन है और न ही चारित्र है।" वस्तुतः शुद्ध ज्ञायकभाव ज्ञानी की अनुभूति का विषय है। शुद्ध ज्ञायकभाव ज्ञानसामान्य भाव है, परमपारिणामिक भाव है, द्रव्यात्मा है। इसलिये इसमें पर्याय भी गौण है और गुणों के भेदरूप व्यवहार भी नहीं हैं, लेकिन इसमें सभी गुण अवश्य विद्यमान हैं। इसलिये कहा जा सकता है कि चतुर्थादिगुणस्थानवर्ती जीव को शुद्धात्मा की अनुभूति होती है और शुद्ध ज्ञायक में सभी गुण विद्यमान होने के कारण उस जीव को स्वसमय जीव कहा जाता है, सम्यक् दृष्टि कहा जाता है।

आत्मानुभूति का मार्ग

जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं को प्राप्त करता है, तभी वह आत्मसम्मुख होता है। आत्मसम्मुख होने के पश्चात ही वह आत्मानुभूति कर पाता है। उस समय उसका 'मैंपन' ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा से होता है। ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि — अर्थात ज्ञानी — कहलाता है।

वैराग्यादि योग्यताओं के अभाव में आत्मा परसम्मुख या बहिरात्मा रहती है। जब तक पर में सुखबुद्धि बनी रहती है, तब तक आत्मानुभूति नहीं होती। बहिरात्मा व्यक्ति को यह भ्रम होता है कि सुख पर से प्राप्त होता है। इसलिये वह परवस्तु या परव्यक्ति के पीछे दौड़ता रहता है, और वांछित परवस्तु/परव्यक्ति मिलने पर उसके अधीन रहता है।

यदि कोई ऐसा सुख चाहता है जो कभी समाप्त न हो — अव्याबाध, नित्य और शाश्वत हो — तो वह केवल आत्मानुभूति से ही सम्भव है। आत्मानुभूति के बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं होता, और बिना आत्मप्राप्ति के अनन्त अव्याबाध सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति असम्भव ही है।

एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से वैराग्यप्राप्ति हेतु बारह भावना, चार भावना, धर्मध्यान, इत्यादि करना चाहिये और स्वयं को जाँचते रहना चाहिये।

आत्मपरीक्षण के लिये स्वयं से यह प्रश्न पूछना चाहिए:

मुझे क्या प्रिय लगता है ?

मुझे किस वस्तु या व्यक्ति के प्रति मोह/मूर्च्छा है ?

मेरी तीव्र इच्छाएँ क्या हैं ?

ऐसा क्या है जिसके बिना मैं रह नहीं सकता ?

इन प्रश्नों से यह स्पष्ट होगा कि मेरी बहिर्मुखता या परसम्मुखता कितनी है।

फिर इस बहिर्मुखता का उपचार — बारह भावना आदि के अभ्यास से —करते हुए अपने अभिप्राय को आत्मसम्मुख बनाते रहना ही आत्मानुभूति का मार्ग है।

- जयेश मोहनलाल शेठ

आध्यात्मिक प्रगति के लिये विज़िट करें
www.jayeshsheth.com

मैत्री भावना – सर्व जीवों के प्रति मैत्री चिन्तवन करना, मेरा कोई दुश्मन ही नहीं ऐसा चिन्तवन करना, सर्व जीवों का हित चाहना।

प्रमोद भावना – उपकारी तथा गुणी जीवों के प्रति, गुण के प्रति, वीतरागधर्म के प्रति प्रमोदभाव लाना।

करुणा भावना – अधर्मी जीवों के प्रति, विपरीत धर्मी जीवों के प्रति, अनार्य जीवों के प्रति करुणाभाव रखना।

मध्यस्थ भावना – विरोधियों के प्रति मध्यस्थभाव रखना।

आपके जीवन में सम्यग्दर्शन का सूर्योदय हो, और उसके आलोक से आपको अव्याबाध सुखस्वरूप सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हो, यही मेरी अन्तरात्मा से अभिलषित मंगलमयी भावना है।

JSBN

ISBN

ISBN 978-93-343-6995-3
9 789334 369953